श्रीहरिः

निवेदन

यरवदा कारा मन्दिरसे पूज्यपाद महात्माजी अपने आश्रमवासियोंको गुजरातीमें जो प्रवचन लिख भेजते हैं, उन्हीं-मेंसे सात प्रवचनोंका हिन्दी भाषान्तर इस पुस्तकमें छापा गया है। अनुवाद हिन्दी नवजीवनके सम्पादक मित्रवर श्रीकाशीनाथ-जी त्रिवेदीका किया हुआ है। त्रिवेदीजी प्रवचन सदा भेजा करते हैं। उन्होंने ही कृपापूर्वक प्रवचनोंको पुस्तकरूपमें प्रकाशित कर प्रचार करनेकी शुभ सलाह दी थी इसके लिये हमलोग उनके कृतज्ञ हैं। आशा है सर्वसाधारण महात्माजीके अनुभवपूर्ण एक-एक शब्दसे लाभ उठावेंगे।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

विषय-सूची

सप्त-महाव्रत

सत्य

सत्य शब्दका मूल सत् है। सत्के मानी हैं होना, सत्य अर्थात होनेका भाव। सिवा सत्यके और किसी चीज़की हस्ती ही नहीं है। इसीलिये परमेश्वरका सच्चा नाम सत् अर्थात् सत्य है। चुनांचे, परमेश्वर सत्य है, कहनेके बदले सत्य ही परमेश्वर है यह कहना ज्यादा मौज़ूँ है। राज चलानेवालेके बिना,

सरदारके बिना, हमारा काम नहीं चलता, इसीसे परमेश्वर-नाम ज्यादा प्रचलित है और रहेगा। पर विचार करनेसे तो सत्य ही सच्चा नाम मालूम होता है। और यही पूर्ण अर्थका सूचक भी है।

जहाँ सत्य है वहाँ ज्ञान--शुद्ध ज्ञान है ही। जहाँ सत्य नहीं वहाँ शुद्ध ज्ञान हो नहीं सकता, इसीलिये ईश्वर-नामके साथ चित्--ज्ञान शब्द जोड़ा गया है। जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही हो सकता है, शोक हो ही नहीं सकता और चूँकि सत्य शाश्वत है इसलिये आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण हम ईश्वरको सच्चिदानन्दके नामसे भी पहचानते हैं।

इस सत्यकी आराधनाके लिये ही हमारी हस्ती हो और इसीके लिये हमारी हरएक प्रवृत्ति हो। इसीके लिये हम हर वार श्वासोच्छ्वास लें। ऐसा करना सीख जानेपर हमें बाकी नियम सहज ही हाथ लगेंगे और उनका पालन भी आसान हो जायगा। बगैर सत्यके किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है।

आमतौर पर सत्यके मानी हम सच बोलना ही समझते हैं। लेकिन हमने तो सत्य शब्दका विशाल अर्थमें प्रयोग किया है। विचारमें, वाणीमें और आचारमें सत्य ही सत्य हो। इस सत्यको

सम्पूर्णतया समझनेवालेको दुनियामें दूसरा कुछ भी जानना नहीं रहता, क्योंकि सारा ज्ञान इसमें समाया है, इसे हम ऊपर देख चुके हैं। इसमें जो न समा सके वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है, तो फिर उससे सच्चा आनन्द तो मिल ही कैसे सकता है? यदि हम इस कसौटीका प्रयोग करना सीख जायँ तो तुरन्त ही हमें पता चलने लगे कि कौन-सी प्रवृत्ति करने योग्य है, और कौन-सी त्याज्य; क्या देखने योग्य है, क्या नहीं; क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

लेकिन यह सत्य जो पारसमणि-रूप है, कामधेनु-रूप है, कैसे मिले? इसका जवाब भगवान्‌ने दिया है। अभ्याससे और वैराग्यसे। सत्यकी ही लगन अभ्यास है; और उसके बिना दूसरी तमाम चीजोंके लिये आत्यन्तिक उदासीनता, वैराग्य है। यह होते हुए भी हम देखा करेंगे कि एकका सत्य दूसरेका असत्य है। इससे घबरानेकी कोई ज़रूरत नहीं। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है वहाँ भिन्न मालूम होनेवाले सब सत्य एक ही पेड़के असंख्य भिन्न दीख पड़नेवाले पत्तोंके समान हैं। परमेश्वर भी कहाँ हर आदमीको भिन्न नहीं मालूम होता? तो भी हम यह जानते हैं कि वह एक ही है। लेकिन सत्य ही परमेश्वरका नाम है, इसलिये जिसे जो सत्य लगे वैसा वह बरते तो उसमें दोष नहीं,

यही नहीं, बल्कि वही कर्तव्य है। यदि ऐसा करनेमें ग़लती होगी तो वह भी सुधर ही जायगी। क्योंकि सत्यकी शोधके पीछे तपश्चर्या होती है, यानी स्वयं दुःख सहन करना होता है, उसके लिये मरना भी पड़ता है, इसलिये उसमें स्वार्थकी तो गन्धतक नहीं होती। ऐसी निःस्वार्थ शोध करते हुए आजतक कोई ऐसा न हुआ जो आख़िरतक ग़लत रास्ते गया हो। रास्ता भूलते ही ठोकर लगती है और फिर वह सीधे रास्तेपर चलने लगता है। इसीलिये सत्यकी आराधना भक्ति है, और भक्ति तो 'सिरका सौदा है,' अथवा वह हरिका मार्ग है, अतः उसमें कायरताकी गुंजायश नहीं। उसमें हार जैसा कुछ है ही नहीं। वह तो 'मरकर जीनेका मन्त्र है।'

× × × ×

इस सिलसिलेमें हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र, इमाम हसन, हुसेन, ईसाई सन्त वगैराके चरित्रोंका विचार कर लेना चाहिये और सब बालक, बड़े, स्त्री-पुरुषको चलते, बोलते, खाते, पीते, खेलते, मतलब हर काम करते हुए सत्यकी रट लगाये रहनी चाहिये। ऐसा करते-करते वे निर्दोष नींद लेने लग जायँ तो क्या ही अच्छा हो? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिये तो रत्न-चिन्तामणि साबित हुआ है। हम सबके लिये हो।

अहिंसा

सत्यका, अहिंसाका, मार्ग सीधा है, उतना ही सँकड़ा भी है। तलवारकी धारपर चलनेके समान है। नट लोग जिस रस्सीपर एक निगाह रखकर चल सकते हैं, सत्य और अहिंसाकी रस्सी उससे भी पतली है। ज़रा भी असावधानी हुई कि नीचे गिरे। प्रतिपल साधना करनेसे ही उसके दर्शन हो सकते हैं।

लेकिन सत्यके सम्पूर्ण दर्शन तो देहद्वारा हो नहीं सकते—असम्भव हैं। उसकी तो केवल कल्पना ही की जा सकती है—क्षणभंगुर देहद्वारा शाश्वत-धर्मका साक्षात्कार होना संभव नहीं। इसलिये आख़िर श्रद्धाका उपयोग तो करना ही होता है।

इसीसे जिज्ञासुको अहिंसा मिली। मेरे रास्तेमें जो मुसीबतें आवें, उन्हें मैं सहूँ या उनके लिये जिनका नाश करना पड़े उनका नाश करता जाऊँ और अपना रास्ता तय करूँ? जिज्ञासुके सामने यह सवाल खड़ा हुआ। उसने देखा कि अगर नाश करता चलता है तो वह रास्ता तय नहीं करता, बल्कि जहाँ था

[illegible]

चोर हमें सताते हैं। उनसे बचनेके लिये हम उन्हें मारते हैं। उस वक्त वे भाग तो गये, पर दूसरी जगह जाकर डाका मारा। वह दूसरी जगह भी हमारी है, सो हम एक अँधेरी गलीमें जाकर टकराये। चोरोंका उपद्रव बढ़ता गया। क्योंकि उन्होंने तो चोरीको कर्तव्य माना है। हम देख चुके हैं कि इससे अच्छा यह है कि चोरका उपद्रव सह लिया जाय। ऐसा करनेसे चोरमें समझ आयेगी। इतना सहन करनेसे हम देखेंगे कि चोर हमसे जुदा नहीं है; हमारे मन तो सब हमारे सगे हैं, रिश्तेदार हैं, मित्र हैं। उन्हें सज़ा नहीं की जा सकती। लेकिन अकेला उपद्रव सहते जाना भी बस नहीं होगा, इससे कायरता पैदा हो सकती है। इससे हमने अपना एक दूसरा विशेष धर्म समझा। चोर यदि हमारे भाई-बन्द हैं, तो हमें उनमें वैसी भावना पैदा करनी चाहिये। अर्थात् हमें उन्हें अपनानेके लिये उपाय सोचनेकी तकलीफ़ उठानी चाहिये। यह अहिंसाका मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख ही उठाना पड़ता है। अखण्ड धैर्य धारण करना सीखना पड़ता है। और यदि ऐसा हुआ तो आख़िर चोर साहूकार

बनता है, हमें सत्यके अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। इस तरह हम जगत्को मित्र बनाना सीखते हैं। ईश्वरकी—सत्यकी महिमा अधिकाधिक जान पड़ती है। संकट सहते हुए भी शान्ति और सुखमें वृद्धि होती है। हमारा साहस–हिम्मत बढ़ता है। हम शाश्वत-अशाश्वतके भेदको अधिक समझने लगते हैं। कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करना सीखते हैं। अभिमान दूर होता है। नम्रता बढ़ती है। परिग्रह सहज ही कम होता है और देहके अन्दर भरा हुआ मैल रोज़ कम होता जाता है।

आज हम जिस स्थूल वस्तुको देखते हैं वही यह अहिंसा नहीं है। किसीको कभी न मारना तो है ही। कुविचारमात्र हिंसा है। उतावलापन–जल्दीपन–हिंसा है। मिथ्या-भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसीका बुरा चाहना हिंसा है। जिसकी दुनियाको ज़रूरत है उसपर क़ब्ज़ा रखना भी हिंसा है। लेकिन यों तो हम जो खाते हैं उसकी भी दुनियाको ज़रूरत है। जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े होते हैं, वे घबराते हैं। वह जगह उनकी है। तो क्या आत्महत्या कर लें? यह भी ठीक नहीं। विचारमें देह-की सब तरहकी लाग-लपटको छोड़नेसे आखिर देह हमें छोड़ देगी। यह अमूर्छित स्वरूप ही सत्यनारायण है। इसप्रकारके दर्शन अधीर होनेसे नहीं हो सकते। देह हमारी नहीं है, यों समझकर,

हमें मिली हुई थातीके–धरोहरके रूपमें हम उसका जो उपयोग कर सकें सो करके अपना रास्ता तय करते जायँ।

मुझे लिखना तो था सरल, पर लिख गया कठिन। तो भी जिसने अहिंसाका थोड़ा भी विचार किया होगा उसे यह समझनेमें मुश्किल न आनी चाहिये।

इतना सब समझ लें कि अहिंसाके बिना सत्यकी खोज़ असंभव है। अहिंसा और सत्य इतने ही ओतप्रोत हैं, जितनी कि सिक्केकी दोनों बाजू (Sides) या चिकनी चकरीके दोनों पहलू–उनमें कौन उलटा और कौन सीधा है? तो भी अहिंसाको हम साधन मानें, सत्यको साध्य। साधन हमारे हाथकी बात है, इसीसे अहिंसा परमधर्म कही गई और सत्य परमेश्वर हुआ। साधनाकी फिक्र करते रहेंगे तो साध्यके दर्शन किसी-न-किसी दिन तो कर ही लेंगे। इतना निश्चय किया कि बेड़ा पार हुआ। हमारे मार्गमें चाहे जो संकट आवें, बाह्य दृष्टिसे देखनेसे हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई पड़े तथापि विश्वासको न डिगाते हुए हम एक ही मंत्र जपें–(जो) सत्य है वही है, वही एक परमेश्वर है। इसके साक्षात्कार-का एक ही मार्ग, एक ही साधन, अहिंसा है; उसे कभी न छोड़ूँगा। जिस सत्यरूप परमेश्वरके नाम यह प्रतिज्ञा की है, उसके पालनका वह बल दे।

ब्रह्मचर्य

हमारे व्रतोंमें तीसरा व्रत ब्रह्मचर्यका है। हक़ीक़त तो यह है कि दूसरे सब व्रत एक सत्यके व्रतमेंसे ही उत्पन्न होते हैं और उसीके लिये रहे हैं। जो मनुष्य सत्यका प्रण किये हुए है, उसीकी उपासना करता है, वह यदि किसी भी दूसरी चीज़की आराधना करता है तो व्यभिचारी ठहरता है। तो फिर विकारकी आराधना क्योंकर की जा सकती है? जिसकी सारी प्रवृत्ति एक सत्यके दर्शनके लिये है वह सन्तान पैदा करने या गृहस्थी चलानेके काममें क्योंकर पड़ सकता है? भोगविलासद्वारा किसीको सत्यकी प्राप्ति हुई हो, ऐसी एक भी मिसाल हमारे पास नहीं।

अहिंसाके पालनको लें तो उसका सम्पूर्ण पालन भी ब्रह्मचर्यके बिना अशक्य है। अहिंसाके मानी हैं, सर्वव्यापी प्रेम। पुरुषके एक

स्त्रीको या स्त्रीके एक पुरुषको अपना प्रेम अर्पण कर चुकनेपर उस-के पास दूसरेके लिये क्या रहा ? इसका तो यही मतलब हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब पीछे।' पतिव्रता स्त्री पुरुषके लिये और पत्नीव्रती पुरुष स्त्रीके लिये सर्वस्व होमनेको तैयार होगा, यानी इससे यह जाहिर है कि उससे सर्वव्यापी प्रेमका पालन हो ही नहीं सकता। वह सारी सृष्टिको अपना कुटुम्ब कभी बना नहीं सकता, क्योंकि उसके पास उसका अपना माना हुआ कुटुम्ब है या तैयार हो रहा है। जितनी उसमें वृद्धि होगी, सर्वव्यापी प्रेममें उतनी ही बाधा पड़ेगी। हम देखते हैं कि सारे जगत्‌में यही हो रहा है। इस-लिये अहिंसा-व्रतका पालन करनेवाला विवाह कर नहीं सकता, विवाहके बाहरके विकारकी तो बात ही क्या ?

तो फिर जो विवाह कर चुके हैं, उनका क्या हो ? उन्हें सत्य किसी दिन नहीं मिलेगा ? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकेंगे ? हमने इसका रास्ता निकाला ही है। विवाहित अविवाहित-सा बन जाय। इस दिशामें इस-सा सुन्दर अनुभव और कोई मैंने किया नहीं। इस स्थितिका स्वाद जिसने चखा है, वह इसकी गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोगकी सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुषका एक दूसरेको भाई बहन मानने लगना, सारी झंझटोंसे मुक्त होना है। संसारभरकी

सारी स्त्रियाँ बहनें हैं, माताएँ हैं, लड़कियाँ हैं, यह विचार ही मनुष्यको एकदम ऊँचा उठानेवाला है,बन्धनसे मुक्त करनेवाला है। इससे पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, उलटे अपनी पूँजी बढ़ाते हैं। कुटुम्ब-वृद्धि करते हैं। विकाररूप मैलको दूर करनेसे प्रेम भी बढ़ता है; विकार नष्ट होनेसे एक दूसरेकी सेवा भी अधिक अच्छी हो सकती है। एक दूसरेके बीच कलहके अवसर कम होते हैं। जहाँ प्रेम स्वार्थी और एकांगी है, वहाँ कलहकी गुंजायश ज्यादा है।

इस मुख्य बातका विचार करनेके बाद और इसके हृदयमें ठँस जानेपर ब्रह्मचर्यसे होनेवाले शारीरिक लाभ, वीर्य-लाभ आदि बहुत गौण हो जाते हैं। इरादतन भोग-विलासके लिये वीर्यहानि करना और शरीरको निचोड़ना कैसी मूर्खता है? वीर्यका उपयोग तो दोनोंकी शारीरिक, मानसिक शक्तिको बढ़ानेमें है। विषय-भोगमें उसका उपयोग करना उसका अति दुरुपयोग है, और इस कारण वह कई रोगोंका मूल बन जाता है।

ब्रह्मचर्यका पालन मन, वचन और कायासे होना चाहिये। हर ब्रतके लिये यही ठीक है। हमने गीतामें पढ़ा है कि जो शरीरको क़ाबूमें रखता हुआ जान पड़ता है, पर मनसे विकारका पोषण किया करता है, वह मूढ़, मिथ्याचारी है। सब किसीको इसका अनुभव होता है। मनको विकारपूर्ण रहने देकर शरीरको दबानेकी

कोशिश करना हानिकर है। जहाँ मन है, वहाँ अन्तको शरीर भी घसीटाये विना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरूरी है। मनको विकारवश होने देना एक वात है, और मनका अपने आप अनिच्छासे, वलात् विकारको प्राप्त होना या होते रहना, दूसरी वात है। इस विकारमें यदि हम सहायक न वनें तो आखिर जीत हमारी ही है। हम प्रतिपल यह अनुभव करते हैं कि शरीर तो कावूमें रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीरको तुरन्त ही वशमें करके मनको वशमें करनेकी रोज़ कोशिश करनेसे हम अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं—कर चुकते हैं। यदि हम मनके अधीन हो जायँ तो शरीर और मनमें विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचारका आरम्भ हो जाता है। पर कह सकते हैं कि जबतक मनोविकारको दवाते ही रहते हैं तबतक दोनों साथ-साथ चलते हैं।

इस ब्रह्मचर्यका पालन वहुत कठिन, लगभग अशक्य ही माना गया है। इसके कारणका पता लगानेसे मालूम होता है कि ब्रह्मचर्यका संकुचित अर्थ किया गया है। जननेन्द्रिय-विकारके निरोधको ही ब्रह्मचर्यका पालन माना गया है। मेरी रायमें यह अधूरी और खोटी व्याख्या है। विषयमात्रका निरोध ही ब्रह्मचर्य है। जो और और इन्द्रियोंको जहाँ-तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रियको रोकनेका प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता

है, इसमें शक ही क्या है ? कानसे विकारकी बातें सुनना, आँखसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभसे विकारोत्तेजक वस्तु चखना, हाथसे विकारोंको भड़कानेवाली चीज़को छूना, और साथ ही जननेन्द्रियको रोकनेका प्रयत्न करना, यह तो आगमें हाथ डालकर जलनेसे बचनेका प्रयत्न करनेके समान हुआ। इसीलिये जो जननेन्द्रियको रोकनेका निश्चय करे उसे पहलेहीसे प्रत्येक इन्द्रियको उस-उस इन्द्रियके विकारोंसे रोकनेका निश्चय कर ही लिया होना चाहिये। मैंने सदासे यह अनुभव किया है कि ब्रह्मचर्यकी संकुचित व्याख्यासे नुक़सान हुआ है। मेरा तो यह निश्चय मत है, और अनुभव है कि यदि हम सब इन्द्रियोंको एक साथ वशमें करनेका अभ्यास करें—रफ्त डालें तो जननेन्द्रियको वशमें करनेका प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है, तभी उसमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसमें मुख्य स्वाद-इन्द्रिय है। इसीलिये उसके संयमको हमने पृथक् स्थान दिया है। उसका अगली बार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्यके मूल अर्थको सब याद रक्खें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मकी—सत्यकी शोधमें चर्या, अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थसे सर्वेन्द्रिय-संयमका विशेष अर्थ निकलता है। सिर्फ़ जननेन्द्रिय-संयमके अधूरे अर्थको तो हम भुला ही दें।

अस्वाद

यह व्रत ब्रह्मचर्यसे निकट सम्बन्ध रखनेवाला है। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि यदि इस व्रतका भलीभाँति पालन किया जाय तो ब्रह्मचर्य—अर्थात् जननेन्द्रिय-सयम बिल्कुल आसान हो जाय। पर आमतौरसे इसे कोई भिन्न व्रत नहीं मानता, क्योंकि स्वादको बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके हैं। इसी कारण इस व्रतको पृथक् स्थान नहीं मिला। यह तो मैंने अपने अनुभवकी बात कही। वस्तुतः बात ऐसी हो या न हो तो भी चूँकि हमने इस व्रतको पृथक् माना है, इसलिये स्वतन्त्र रीतिसे इसका विचार कर लेना उचित है।

अस्वादके मानी हैं, स्वाद न करना। स्वाद अर्थात् रस—जायका। जिस तरह दवाई खाते समय हम इस बातका विचार नहीं करते कि आया वह जायकेदार है या नहीं, पर शरीरके लिये उसकी आवश्यकता समझकर ही उसे योग्य मात्रामें खाते हैं, उसी तरह अन्नको भी समझना चाहिये। अन्न अर्थात् समस्त

खाद्य पदार्थ–अतः इनमें दूध-फलका भी समावेश होता है। जैसे कम मात्रामें ली हुई दवाई असर नहीं करती या थोड़ा असर करती है, और ज्यादा लेनेपर नुकसान पहुँचाती है, वैसे ही अन्नका भी है। इसलिये स्वादकी दृष्टिसे किसी भी चीज़को चखना *व्रतका भंग है।* जायकेदार चीज़को ज्यादा खानेसे तो सहज ही व्रतका भंग होता है। इससे यह जाहिर है कि किसी पदार्थका स्वाद बढ़ाने, बदलने या उसके अस्वादको मिटानेकी गरजसे उसमें नमक वगैरा मिलाना व्रतका भंग करना है। लेकिन यदि हम जानते हों कि अन्नमें नमककी *अमुक मात्रामें* ज़रूरत है और इसलिये उसमें नमक छोड़ें, तो इससे व्रतका भंग नहीं होता। शरीर-पोषणके लिये आवश्यक न होते हुए भी मनको धोखा देनेके लिये आवश्यकताका आरोपण करके कोई चीज़ मिलाना स्पष्ट ही मिथ्याचार कहा जायगा।

इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता चलेगा कि जो अनेक चीज़ें हम खाते हैं, वे शरीर-रक्षाके लिये ज़रूरी न होनेसे त्याज्य ठहरती हैं और यों जो सहज ही असंख्य चीज़ोंको छोड़ देता है, उसके समस्त विकारोंका शमन हो जाता है। *'पेट जो चाहे सो करावे;' 'पेट चाण्डाल है;' 'पेट कुई, मुँह सुई;' 'पेटमें पड़ा चारा तो कूदने लगा बिचारा;' 'जब आदमीके पेटमें आती हैं*

रोटियाँ। फूली नहीं वदनमें समाती हैं रोटियाँ ॥' ये सब वचन बहुत सारगर्भ हैं। इस विषयपर इतना कम ध्यान दिया गया है कि व्रतकी दृष्टिसे खुराककी पसन्दगी लगभग नामुमकिन हो गयी है। इधर बचपनहीसे माँ-बाप झूठा हेत करके अनेक प्रकार-की जायकेदार चीज़ें खिला-पिलाकर बालकोंके शरीरको निकम्मा और जीभको कुत्ती बना देते हैं। फलतः बड़े होनेपर उनकी जीवन-यात्रा शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी पायी जाती है। इसके कड़ुए फलोंको हम पग-पगपर देखते हैं। अनेक तरहके खर्च करते हैं; वैद्य और डाक्टरोंकी सेवा उठाते हैं और शरीर तथा इन्द्रियोंको वशमें रखनेके बदले उनके गुलाम बनकर अपंग-सा जीवन विताते हैं। एक अनुभवी वैद्यका कथन है कि उसने दुनियामें एक भी नीरोग मनुष्यको नहीं देखा। थोड़ा भी स्वाद किया कि शरीर भ्रष्ट हुआ और तभीसे उस शरीरके लिये उपवासकी आवश्यकता पैदा हो गयी।

इस विचारधारासे कोई घबराये नहीं। अस्वाद-व्रतकी भयंकरता देखकर उसे छोड़नेकी भी ज़रूरत नहीं। जब हम कोई व्रत लेते हैं, तो उसका यह मतलब नहीं कि तभीसे उसका सम्पूर्ण पालन करने लग जाते हैं। व्रत लेनेका अर्थ है, उसका सम्पूर्ण पालन करनेके लिये, मरते दमतक, मन, वचन और कर्मसे,

प्रामाणिक तथा दृढ़ प्रयत्न करना। कोई व्रत कठिन है, इसीलिये उसकी व्याख्याको शिथिल करके हम अपने आपको धोखा न दें। अपनी सुविधाके लिये आदर्शको नीचे गिरानेमें असत्य है, हमारा पतन है। स्वतन्त्र रीतिसे आदर्शको पहचान कर, उसके चाहे जितना कठिन होनेपर भी, उसे पानेके लिये जी तोड़ प्रयत्न करनेका नाम ही परम-अर्थ है, पुरुषार्थ है–(पुरुषार्थका अर्थ हम केवल नर-तक ही सीमित न रक्खें; मूलार्थके अनुसार जो पुर यानी शरीरमें रहता है, वह पुरुष है; इस अर्थके अनुसार पुरुषार्थ शब्दका उपयोग नर-नारी दोनोंके लिये हो सकता है।) जो तीनों कालोंमें महाव्रतोंका सम्पूर्ण पालन करनेमें समर्थ है, उसके लिये इस जगत्में कुछ कार्य–कर्तव्य–है नहीं,– वह भगवान् है, मुक्त है। हम तो अल्प मुमुक्षु–सत्यका आग्रह रखनेवाले, उसकी शोध करनेवाले प्राणी हैं। इसलिये गीताकी भाषामें धीरे-धीरे, पर अतन्द्रित रहकर प्रयत्न करते चलें। ऐसा करनेसे किसी दिन प्रभु-प्रसादी के योग्य हो जायँगे और तब हमारे तमाम विकार भी भस्म हो जायँगे।

अस्वाद-व्रतके महत्त्वको समझ चुकनेपर हमें उसके पालनका नये सिरेसे प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये चौबीसों घण्टे खानेकी ही चिन्ता करना आवश्यक नहीं है। सिर्फ सावधानीकी–जागृतिकी–बहुत ज्यादा ज़रूरत है, ऐसा करनेसे कुछ ही समयमें हमें

माल्रूम होने लगेगा कि हम कब और कहाँ स्वाद करते हैं। माल्रूम होनेपर हमें चाहिये कि हम अपनी स्वादवृत्तिको दृढ़ताके साथ कम करें। इस दृष्टिसे संयुक्तपाक—यदि वह अस्वादवृत्तिसे किया जाय—बहुत मददगार है। उसमें हमें रोज-रोज इस बातका विचार नहीं करना पड़ता कि आज क्या पकावेंगे और क्या खावेंगे। जो कुछ बना है, और जो हमारे लिये, त्याज्य नहीं है, उसे ईश्वरकी कृपा समझकर, मनमें भी उसकी टीका न करते हुए, सन्तोषपूर्वक शरीरके लिये जितना आवश्यक हो, उतना ही खाकर हम उठ जायँ। ऐसा करनेवाला सहज ही अस्वादव्रतका पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा बोझ हलका करते हैं—हमारे व्रतोंके रक्षक बनते हैं। वे स्वाद करानेकी दृष्टिसे कुछ भी न पकावें, केवल समाजके शरीर-पोषणके लिये ही रसोई तैयार करें। वस्तुतः तो आदर्श स्थिति वह है, जिसमें अग्निका खर्च कम-से-कम या बिल्कुल न हो। सूर्यरूपी महा अग्नि जो खाद्य पकाती है, उसीमेंसे हमें अपने लिये खाद्य पदार्थ चुन लेने चाहिये। इस विचार-दृष्टिसे यह साबित होता है कि मनुष्य-प्राणी केवल फलाहारी है। लेकिन यहाँ इतना गहरा पैठनेकी जरूरत नहीं। यहाँ तो विचारना था कि अस्वादव्रत क्या है, उसके मार्गमें कौन-सी कठिनाइयाँ हैं और नहीं हैं, तथा उसका ब्रह्मचर्यके साथ कितना अधिक निकट सम्बन्ध है। इतना ठीक-ठीक हृदयंगम हो जानेपर सब इस व्रतके सम्पूर्ण पालनका शुभ प्रयत्न करें।

अस्तेय

अब हम अस्तेय व्रतका विचार करेंगे। यदि गम्भीर विचार करके देखें तो मालूम होगा कि सब व्रत सत्य और अहिंसाके अथवा सत्यके गर्भमें रहते हैं, और वे इस तरह बताये जा सकते हैं:—

जितने बढ़ाये जायँ उतने।
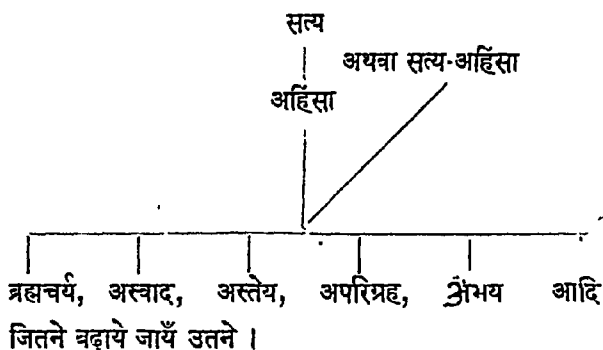
या तो सत्यमेंसे अहिंसाको स्थापित करें या सत्य-अहिंसाकी जोड़ी मानें। दोनों एक ही वस्तु हैं। तो भी मेरा मन पहलेकी ओर ही झुकता है। और अन्तिम स्थिति भी जोड़ीसे–द्वन्द्वसे अतीत है। परम सत्य अकेला खड़ा रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा एक साधन।–अहिंसा क्या है, जानते हैं, पालन कठिन

है। सत्यको तो अंशतः ही जानते हैं, सम्पूर्णतया जानना देहीके लिये कठिन है। वैसे ही जैसे अहिंसाका सम्पूर्ण पालन देहीके लिये कठिन है।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। कोई यह न मानेगा कि चोरी करनेवाला सत्यको जानता और प्रेम-धर्मका पालन करता है; तो भी चोरीका अपराध तो हम सब, कम या ज्यादा मात्रामें, जानमें या अजानमें करते ही हैं। दूसरेकी वस्तुको उसकी अनुमतिके बिना लेना तो चोरी है ही; परन्तु मनुष्य अपनी कही जानेवाली चीज भी चुराता है। उदाहरणार्थ, किसी पिताका अपने बालकोंके जाने बिना, उन्हें मालूम न होने देनेकी इच्छासे, चुपचाप किसी चीजका खाना। यह कहा जा सकता है, कि आश्रमका वस्तु-भण्डार हम सबका है, परन्तु उसमेंसे जो चुपचाप गुड़की डली भी लेता है, वह चोर है। एक बालक दूसरे बालककी कलम लेकर मेरी कहता है। किसीके जानते हुए भी उसकी चीज़को उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है। यह समझकर कि वह किसीकी भी नहीं है, किसी चीज़को अपने पास रख लेनेमें भी चोरी है। अर्थात् राहमें मिली हुई चीजके मालिक हम नहीं, बल्कि उस प्रदेशका राजा या व्यवस्थापक है। आश्रमके नजदीक मिली हुई कोई भी चीज आश्रमके मन्त्रीको सौंपी जानी चाहिये। और यदि वह

आश्रमकी न हो तो मन्त्री उसे सिपाहीको सौंप दे। इतने तक तो समझना साधारणतः सहज ही है। परन्तु अस्तेय इससे बहुत आगे जाता है। जिस चीज़के लेनेकी हमें आवश्यकता न हो, उसे जिसके पास वह है, उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। ऐसी एक भी चीज न लेनी चाहिये, जिसकी ज़रूरत न हो। संसारमें इस तरहकी अधिकसे-अधिक चोरी खाद्यपदार्थोंकी होती है। मुझे अमुक फलकी हाजत–आवश्यकता–नहीं है, तो भी यदि मैं उसे लेता हूँ, तो वह चोरी है। मनुष्य हमेशा इस बातको नहीं जानता कि उसकी आवश्यकता कितनी है, और प्रायः हममेंसे सब अपनी आवश्यकता-ओंको, जितनी होनी चाहिये, उससे अधिक बढ़ा लेते हैं। विचार करनेसे हमें मालूम होगा कि हम अपनी बहुतेरी आवश्यकताओंको कम कर सकते हैं। अस्तेय-व्रतका पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताओंको कम करेगा। इस दुनियाकी अधिकांश कंगालियत अस्तेयके भंगके कारण पैदा हुई है।

उक्त समस्त चोरियोंको बाह्य या शारीरिक चोरी कह सकते हैं। इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिरानेवाली या पतित बनाये रखनेवाली चोरी, मानसिक है। मनसे किसीकी चीज़को पानेकी इच्छा करना या उसपर जूठी नज़र डालना चोरी है। बड़े बूढ़े या बालकका किसी उम्दा चीज़को देखकर ललचा जाना मानसिक चोरी है। उपवास करनेवाला शरीरसे नहीं खाता,

परन्तु दूसरेको खाते देख यदि वह मन-ही-मन स्वाद करने लगता है, तो चोरी करता है और उपवासको तोड़ता है। जो उपवासी उपवास छोड़ते समय खानेका ही विचार किया करता है, कह सकते हैं कि वह अस्तेय और उपवास दोनोंका भंग करता है। अस्तेयव्रतका पालक भविष्यमें प्राप्त होनेवाली चीज़ोंके लिये हवाई क़िले नहीं बाँधा करता। बहुतेरी चोरियोंका मूल कारण आपकी यह जूठी इच्छा ही मालूम होगी। आज जो केवल विचारहीमें है, कल उसे पानेके लिये हम भले-बुरे उपाय सोचने लग जायँगे। और जैसे चीज़की वैसे ही विचारकी भी चोरी होती है। अमुक उत्तम विचार अपने मनमें उत्पन्न न होनेपर भी, जो अहंकारवश उसे अपना बताता है, वह विचारकी चोरी करता है। दुनियाके इतिहासमें बहुतेरे विद्वानोंने भी ऐसी चोरी की है और आज भी होती रहती है। मान लीजिये कि मैं आन्ध्रदेशमें एक नई क़िस्मका चर्ख़ा देख आया, वैसा चर्ख़ा मैंने आश्रममें बनवाया और उसे अपना आविष्कार कहना शुरू किया, तो स्पष्ट है कि मैंने इस तरह दूसरेके आविष्कारकी चोरी की है। असत्याचरण तो किया ही है।

अतएव अस्तेयव्रतका पालन करनेवालेको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बहुत सादगीसे रहना पड़ता है।

अपरिग्रह

अपरिग्रहका सम्बन्ध अस्तेयसे है। जो चीज़ मूलमें चोरीकी नहीं है, पर अनावश्यक है, उसका संग्रह करनेसे वह चोरीकी चीजके समान हो जाती है। परिग्रहका मतलब सञ्चय या इकट्ठा करना है। सत्य-शोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता, वह अपने लिये 'आवश्यक' वस्तु रोज़-रोज पैदा करता है। इसलिये यदि हम उसपर विश्वास रक्खें तो जानेंगे कि वह हमें हमारी जरूरतकी चीजें रोज-रोज देता है, और देगा। औलिया भक्तोंका यही अनुभव है। प्रतिदिनकी आवश्यकताके अनुसार ही प्रतिदिन पैदा करनेके ईश्वरीय नियमको हम जानते नहीं, अथवा जानते हुए भी पालते नहीं, इससे जगत्में विषमता और तज्जन्य दुःखोंका अनुभव करते हैं। धनवानके घर, उसके लिये अनावश्यक अनेक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, बिगड़ जाती हैं। जब कि उन्हीं

चीजोंके अभावमें करोड़ों दर-दर भटकते हैं, भूखों मरते हैं और जाड़ेसे ठिठुरते हैं। यदि सब अपनी आवश्यकतानुसार ही संग्रह करें तो किसीको तंगी न हो, और सब सन्तोषसे रहें। आज तो दोनों तंगीका अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होनेकी कोशिश करता है, तो भी उसे सन्तोष नहीं रहता। कंगाल करोड़पति बनना चाहता है। कंगालको पेटभर मिल जानेसे ही सन्तोष होता नहीं पाया जाता। परन्तु कंगालको पेटभर पानेका हक़ है और समाजका धर्म है कि वह उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने सन्तोषके खातिर पहले धनाढ्यको पहल करनी चाहिये। वह अपना अत्यन्त परिग्रह छोड़े तो कंगालको पेटभर सहज ही मिलने लगे और दोनों पक्ष सन्तोषका सबक सीखें। आदर्श आत्यन्तिक परिग्रह तो उसीका होता है, जो मन और कर्मसे दिगम्बर हो। अर्थात् वह पक्षीकी तरह गृहहीन, अन्नहीन और वस्त्रहीन रहकर विचरण करे। अन्नकी उसे रोज आवश्यकता होगी, और भगवान् रोज़ उसे देंगे। पर इस अवधूत-स्थितिको तो विरले ही पा सकते हैं। हम तो सामान्य कोटिके सत्याग्रही ठहरे, जिज्ञासु ठहरे। हम आदर्शको ध्यानमें रखकर नित्य अपने परिग्रहकी जाँच करते रहें और जैसे बने वैसे उसे घटाते रहें। सच्ची संस्कृति—सुधार और सभ्यताका लक्षण परिग्रहकी वृद्धि नहीं, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसकी कमी

है। जैसे-जैसे परिग्रह कम करते हैं, वैसे-वैसे सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता है। सेवा-क्षमता बढ़ती है। इस दृष्टिसे विचार करते और तदनुसार वर्तते हुए हम देखेंगे कि हम आश्रममें बहुतेरा ऐसा संग्रह करते हैं, जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते। फलतः ऐसे अनावश्यक परिग्रहसे हम पड़ोसीको चोरी करनेके लिये ललचाते हैं। पर अभ्यासद्वारा आदमी अपनी आवश्यकताओंको कम कर सकता है। और जैसे-जैसे कम करता जाता है वैसे-वैसे वह सुखी और सब तरह आरोग्यवान बनता है। केवल सत्यकी—आत्माकी दृष्टिसे विचारें तो शरीर भी परिग्रह है। भोगेच्छाके कारण हमने शरीरका आवरण खड़ा किया है, और उसे टिकाये रखते हैं। भोगेच्छा यदि अत्यन्त क्षीण हो जाय तो शरीरकी आवश्यकता दूर हो, अर्थात् मनुष्यको नया शरीर धारण करनेकी ज़रूरत न रहे। आत्मा सर्वव्यापक है; वह शरीररूपी पींजड़ेमें क्यों बन्द रहे? इस पींजड़ेको कायम रखनेके लिये अनर्थ क्यों करे? दूसरोंकी हत्या क्यों करे? इस विचार-श्रेणीद्वारा हम आत्यन्तिक त्यागको पहुँचते हैं। और जबतक शरीर है तबतक उसका उपयोग सेवाके लिये करना सीखते हैं और सो भी इस हदतक कि फिर सेवा ही उसकी सच्ची खुराक बन जाती है। तब मनुष्य खाना, पीना, सोना, बैठना, जागना, सब कुछ सेवाके लिये ही करता है। इससे पैदा होनेवाला सुख

सच्चा सुख है और इस तरह आचरण करनेवाला मनुष्य अन्तमें सत्यके दर्शन करता है। इस दृष्टिसे हम सब, अपने परिग्रहका विचार कर लें। यहाँ यह याद रहे कि वस्तुकी भाँति ही विचारका भी परिग्रह न होना चाहिये। जो मनुष्य अपने दिमाग़में निरर्थक ज्ञान ठूँस रखता है, वह परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वरसे विमुख रखते हैं, या ईश्वरकी ओर नहीं ले जाते, वे सब परिग्रहमें शुमार होते हैं और इसलिये त्याज्य हैं। तेरहवीं अध्यायमें भगवान्‌ने ज्ञानकी ऐसी ही व्याख्या की है; इस सिलसिलेमें उसका विचार कर लेना चाहिये। अमानित्व आदिको गिनाकर भगवान्‌ने कहा है कि इनके अतिरिक्त जो कुछ है, वह सब अज्ञान है। यदि यह वचन सच्चा हो, और यह सच तो है ही, तो आज जो बहुतेरा ज्ञानके नामसे संग्रह करते हैं, वह अज्ञान ही है, और इसलिये उससे लाभके बदले हानि होती है। दिमाग़ फिर जाता है और अन्तमें खाली हो जाता है। असन्तोष बढ़ता है और अनर्थोंकी वृद्धि होती है। इसपरसे कोई उद्यमहीनताको फलित न करे। हमारा प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिये। परन्तु वह प्रवृत्ति सात्त्विक हो, सत्यकी ओर ले जानेवाली हो। जिसने सेवा-धर्मको स्वीकार किया है, वह एक क्षण भी कर्महीन नहीं रह सकता। यहाँ तो सारासारका विवेक सीखना है। सेवापरायणको यह विवेक सहज प्राप्त है।

अभय

भगवान्‌ने १६ वें अध्यायमें दैवी सम्पदाका वर्णन करते हुए इसकी गणना प्रथम की है। यह श्लोककी संगति बैठानेके लिये किया है, या अभयको प्रथम स्थान मिलना चाहिए इसलिये, इस विवादमें मैं न पड़ूँगा; इस प्रकारका निर्णय करनेकी मुझमें योग्यता भी नहीं है। मेरी रायमें तो यदि अभयको अनायास ही प्रथम स्थान मिला हो, तो भी वह उसके योग्य ही है। विना अभयके दूसरी सम्पत्तियाँ नहीं मिल सकतीं। विना अभयके सत्यकी शोध कैसी? विना अभयके अहिंसाका पालन कैसा! '*हरिका मारग है शूरोंका नहिं कायरका क़ाम, देखो*।' सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण, वही वासुदेव है। कायर अर्थात् भयभीत, डरपोक; शूर अर्थात् भयमुक्त, तलवार आदिसे सज्ज नहीं। तलवार शौर्यकी संज्ञा नहीं, भयकी निशानी है।

अभय अर्थात् समस्त बाह्य भयोंसे मुक्ति—मौतका भय, धन-

माल लुटनेका भय, कुटुम्ब-परिवार-सम्बन्धी-भय, रोगका भय, शस्त्र-प्रहारका भय, आबरू–इज़्ज़तका भय, किसीको बुरा लगानेका भय, यों भयकी वंशावली जितनी बढ़ावें, बढ़ाई जा सकती है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि एक मौतका भय जीत लेनेसे सब भयोंपर जीत मिल जाती है। लेकिन यह ठीक नहीं लगता। बहुतेरे (लोग) मौतका डर छोड़ते हैं; पर वे ही नाना प्रकारके दुःखोंसे दूर भागते हैं; कोई स्वयं मरनेको तैयार होते हैं, पर सगे-सम्बन्धियोंका वियोग नहीं सह सकते। कुछ कंजूस इन सबको छोड़ देते हैं, पर -संचित धनको छोड़ते घबराते हैं। कुछ अपनी मानी हुई आबरू–प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिये अनेक अकार्य करनेको तैयार होते और रहते हैं। कुछ दूसरे लोक-निन्दाके भयसे, सीधा मार्ग जानते हुए भी, उसे ग्रहण करनेमें झिझकते हैं। पर सत्य-शोधकके लिये तो इन सब भयोंको तिलाञ्जलि दिये ही छुटकारा है। हरिश्चन्द्रकी तरह पामाल होनेकी उसकी तैयारी होनी चाहिए। हरिश्चन्द्रकी कथा चाहे काल्पनिक हो, परन्तु चूँकि समस्त आत्मदर्शियोंका यही अनुभव है, अतः इस कथाकी क़ीमत किसी भी ऐतिहासिक कथाकी अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है और हम सबके लिये संग्रहणीय तथा माननीय है।

इस व्रतका सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्रसे तो वही मुक्त हो सकता है, जिसे आत्मसाक्षात्कार हुआ हो। अभय

अमूर्छस्थितिकी पराकाष्ठा–हद है। निश्चयसे, सतत प्रयत्नसे और आत्मापर श्रद्धा बढ़नेसे अभयकी मात्रा बढ़ सकती है। मैं आरम्भही-में कह चुका हूँ कि हमें बाह्य भयोंसे मुक्त होना है। अन्तरमें जो शत्रु वास करते हैं, उनसे तो डरकर ही चलना है। काम, क्रोध आदिका भय सच्चा भय है। इन्हें जीत लें तो बाह्य भयोंका उपद्रव अपने आप मिट जाय। भयमात्र देहके कारण हैं। देह-सम्बन्धी राग–आसक्ति–दूर हो तो अभय सहज ही प्राप्त हो। इस दृष्टिसे विचार करनेपर हमें पता लगेगा कि भयमात्र हमारी कल्पनाकी सृष्टि है। धनमेंसे, कुटुम्बमेंसे, शरीरमेंसे, 'ममत्व' को दूर कर देनेपर भय कहाँ रह जाता है? '*तेन त्यक्तेन भुंजीथाः*' यह रामबाण वचन है। कुटुम्ब, धन, देह जैसेके तैसे रहेंगे, पर उनके सम्बन्धकी अपनी कल्पना हमें बदल देनी होगी। ये 'हमारे' नहीं, 'मेरे' नहीं, ईश्वरके हैं; मैं भी उसीका हूँ; मेरा अपना इस जगत्में कुछ भी नहीं है, तो फिर मुझे भय किसका हो सकता है? इसीसे उपनिषद्कारने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे माँगो।' अर्थात् हम उसके मालिक न रहकर केवल रक्षक बनें। जिसकी ओरसे हम रक्षा करते हैं वह उसकी रक्षाके लिये आवश्यक शक्ति और सामग्री हमें देगा। यों यदि हम, स्वामी मिटकर सेवक बनें, शून्यवत् रहें, तो सहज ही समस्त भयोंको जीत लें; सहज ही शान्ति प्राप्त करें और सत्यनारायणके दर्शन करें।'

तत्त्व-चिन्तामणि

इस महान् ग्रन्थके लेखक हैं—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ४०६ मोटा एण्टिक कागज मूल्य ॥।-) सजिल्द १) दो सुन्दर रंगीन चित्र—

गोरखपुरसे 'कल्याण' नामक मासिक पत्र प्रकाशित होता है। उसमें जयदयालजी गोयन्दकाके समय-समयपर लिखे २६ निबन्धोंका इस पुस्तकमें संग्रह किया गया है। ज्ञानीकी अनिर्वचनीय स्थिति, भगवान् क्या हैं, अनन्य प्रेम ही भक्ति है, उपासनाका तत्त्व, धर्म क्या है, कर्मका रहस्य आदि निबन्धोंके नामोंसे ही पुस्तकका प्रतिपाद्य विषय ध्यानमें आने योग्य है। पुस्तक बहुतोंको उपर्युक्त मार्गप्रदर्शक है।—'ज्ञानप्रकाश मराठी', पूना।

तत्त्वचिन्तामणि वस्तुतः पठनीय और माननीय ग्रन्थ हुआ है। सचित्र और सस्ते दामोंसे सुलभ होनेके कारण उसकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। आदरणीय गोयन्दकाजी...भक्ति-साहित्यकी जो अमर सेवा कर रहे हैं, वह उन्हींके अनुरूप है।—श्रीकाशीनाथजी सं० सम्पादक 'नवजीवन'

प्रेम-योग

लेखक—हिन्दी-संसारके सुपरिचित श्रीवियोगी हरिजी

दो खण्ड, पृष्ठ ४२० बहुत मोटे एण्टिक कागज, मनोहर रंगीन चित्रसहित, मूल्य १।) सजिल्द १॥)

यह प्रेमयोग प्रेम-साहित्यका एक पूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रायः सभी धर्मावलम्बियोंके प्रेम-विषयक आदर्श अनुभवों और सूक्तियोंका विचित्र संग्रह है।

"प्रेमका अर्थ कामक्रीड़ा नहीं। प्रेमका स्वरूप तो इससे कितना ही उच्च है। वह कैसा है?·········प्रेमके विविध स्वरूपोंका मार्मिक विवेचन किया गया है। दूसरे खण्डमें 'विश्वप्रेम क्या है' यह दिखाकर सूरदास, तुलसीदासजीके काव्योंमें वात्सल्य रस कैसा ओत-प्रोत है यह दिखा मातृभक्ति और स्वदेशप्रेमके स्वरूपका वर्णन किया गया है। पुस्तक पठनीय है।"

—'केसरी' पूना